जीमें 'रिलीजन'। का व्युत्पत्यर्थ 'फिरसे बँधना' (बाइन्डिंग बैक) होता है और उससे वह रिलीजन (धर्म) मनुष्यको परतंत्रताके विचारकी ओर आकर्षित करता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह हमको यह भी बतलाता है कि, उस परतंत्रतामें ही मनुष्योंके तथा दूसरे प्राणियोंके सुखका समावेश है। अर्थात् सान्तजीवको अनन्त ईश्वरके आधीन रहना, यही उसके लिये कल्याणकारी है। परन्तु जैनी इस विषयमें कुछ जुदा ही विचार प्रगट करते हैं। वे कहते हैं कि, **आनन्द परतंत्रतामें नहीं, किन्तु स्वतंत्रतामें ही है**। सांसारिक जीवनमें परतंत्रता है। और वह (सांसारिकजीवन) धर्मका एक अंग है। इसलिये यदि हम अंग्रेजी रिलीजिन शब्दका प्रयोग सांसारिक जीवनके लिये करें, तो किसी प्रकारसे कर सकते हैं। परन्तु जो जीवन इस वर्तमान जीवनकी अपेक्षा बहुत ही ऊंचा है और जिसमें आत्मा बंधन अथवा दुःखद पापकर्मोंसे सर्वथा मुक्त है, उसमें रिलीजन शब्द घटित नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा अपनी ऊंचीसे ऊंची स्थितिमें जब कि वह स्वयं परमात्मा है मुक्त अथवा स्वतंत्र है। हमारे जिनधर्मका यह रहस्य है। इसलिये उसमें सबसे पहला विचार यह उपस्थित होता है कि,

विश्व क्या है?

इस विश्वका आदि है कि नहीं? वह नित्य (अविनाशी) है कि क्षणिक है? यद्यपि इस विषयमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु इस व्याख्यानमें मैं उनका विचार नहीं करूंगा। मैं तो केवल जैन फिलासोफीका सिद्धान्त इस विषयमें क्या है उसे आपके समक्षमें निवे-

जीमें 'रिलीजन' । का व्युत्पत्यर्थ 'फिरसे बँधना' (बाइन्डिग बैक) होता है और उससे वह रिलीजन (धर्म) मनुष्यको परतंत्रताके विचार-की ओर आकर्षित करता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह हमको यह भी बतलाता है कि, उस परतंत्रतामें ही मनुष्योंके तथा दूसरे प्राणि-योंके सुखका समावेश है। अर्थात् सान्तजीवको अनन्त ईश्वरके आ-धीन रहना, यही उसके लिये कल्याणकारी है। परन्तु जैनी इस विषयमें कुछ जुदा ही विचार प्रगट करते हैं। वे कहते हैं कि, आनन्द परतंत्रतामें नहीं, किन्तु स्वतंत्रतामें ही है । सांसारिक जीवनमें परतंत्रता है। और वह (सांसारिकजीवन) धर्मका एक अंग है । इसलिये यदि हम अंग्रेजी रिलीजिन शब्दका प्रयोग सांसारिक जी-वनके लिये करें, तो किसी प्रकारसे कर सकेत हैं। परन्तु जो जीव-न इस वर्तमान जीवनकी अपेक्षा बहुत ही ऊंचा है और जिसमें आत्मा बंधन अथवा दुःखद पापकर्मोंसे सर्वथा मुक्त है, उसमें रिलीजन शब्द घटित नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा अपनी ऊंचीसे ऊंची स्थितिमें जब कि वह स्वयं परमात्मा है मुक्त अथवा स्वतंत्र है। हमारे जिनधर्मका यह रहस्य है। इसलिये उसमें सबसे पहला विचार यह उपस्थित होता है कि,

विश्व क्या है ?

इस विश्वका आदि है कि नहीं ? वह नित्य (अविनाशी) है कि क्षणिक है ? यद्यपि इस विषयमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु इस व्याख्यानमें मैं उनका विचार नहीं करूंगा। मैं तो केवल जैन फि-लासोफीका सिद्धान्त इस विषयमें क्या है उसे आपके समक्षमें निवे-

"पहले कुछ नहीं था, उसमेंसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई" ऐसे विचारके लिये इस जैन फिलासोफीमें स्थान नहीं है। और यदि सच पूछो तो यह विचार किसी भी सत्य विचारशील प्रजाने स्वाकार नहीं किया है। जो लोग सृष्टिकी उत्पत्ति माननेवाले हैं, वे भी इस विचार से नहीं किन्तु दूसरी ही अपेक्षासे--दूसरी ही रीतिसे इस वातको मानते हैं। कुछ नहीं था, शून्य था तो उसमेंसे सृष्टि कहांसे आई? कोई वस्तु है--कोई पदार्थ है, उसीमेंसे यह प्रगट हुई है--रची गई है, ऐसा कहते हैं। इसमें इतनी ही वातें समझ लेनेकी हैं, कि पदार्थ में केवल कोई अवस्था (हालत पर्याय) उत्पन्न होती है। पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है। यह पुस्तक किसी अपेक्षासे बनाई गई है। क्योंकि इसमें जो परमाणु हैं, वे इसके वननेके पहले जुदा जुदा हालतमें थे, पछिसे संग्रह किये गये हैं--इकट्ठे किये गये हैं। अर्थात् इस पुस्तकका आकार सृजित हुआ है। इसलिये इसकी आदि थी और अन्त भी आवेगा। इसी प्रकारसे प्रत्येक जड़ पदार्थकी आकृतिके विषयमें समझना चाहिये, चाहे वह आकृति थोड़े ही क्षणतक रहे चाहे सैंकडों वर्षोंतक रहे। जहां आदि है वहां अन्त अवश्य आवेगा हम कहा करते हैं कि, हमारे आसपास कितनी ही (forces) वलवती शक्तियां काम कर रही हैं और उन शक्तियोंमें ही ध्रौव्य और नाश ये दो स्वभाव हैं। ये सारी शक्तियां अथवा वल हममें और हमारे आसपास हर समय काम किया करते हैं। वस जैनी, इन सारी शक्तियोंके समूहको ईश्वर कहते हैं। ओम् नामक प्रणव से भी इसी ब्रह्मका ज्ञान होता है। इस शब्दका प्रथम उच्चार उत्पत्तिका दूसरा स्थिति, (ध्रौव्य) का और तीसरा नाशका विचार प्रद-

शित करता है। विश्वकी ये सारी शक्तियां समूहरूपसे देखी जावें, तो कितनी ही खास खास नियमोंके आधीन हैं। यदि वे नियम नियत हैं—उनमें कुछ रदबदल नहीं हो सकती है, तो फिर लोग क्यों उनके पैर पड़ते हैं? और क्यों इस शक्तिसमूहको देव अथवा ईश्वर मानते हैं। इसका उत्तर यह है कि इस विचारके प्रारंभमें बुरा करनेकी शक्तिका विचार हमेशासे लग रहा है। अर्थात् लोग समझ रहे हैं कि, ये शक्तियां हमारा अकल्याण कर सकती हैं, इसलिये इन्हें मानना चाहिये। जब हिन्दुस्थानमें पहले पहले रेल जारी हुई थी, तब अज्ञानी लोग यह नहीं समझ सके थे कि, वह क्या है? जिन्होंने अपनी सारी जिन्दगीमें यह नहीं देखा था कि, गाड़ी अथवा रथ विना किसी बैल अथवा घोड़ा आदि प्राणीके भी चल सकते हैं, उन्होंने समझा कि, इंजिनमें कोई देव वा देवी जरूर है जो उसे चलाता है। उनमें सैकड़ों तो ऐसे थे, जो समझना तो ठीक ही है—रेलगाड़ीके पैर भी पड़ते थे। इस समय भी हिंदुस्थानके बहुतसे जंगली लोगोंमें यह विचार पहलेके समान प्रचलित है। इसलिये यह संभव हो सकता है कि, हमने अपनी आरंभकी स्थितिमें ऐसे किसी पुरुषकी धारणा की होगी और उसके पश्चात उस विचारमें होते होते यहां तक वृद्धि हुई होगी कि, हम अपने उन विचारोंको चित्राकृतिका स्वरूप देने लगे होंगे और इसके पश्चात् वह रूप दूसरोंको भी स्पष्ट रीतिसे समझमें आवे, ऐसे बनाने लगे होंगे। बहुत ही प्राचीन कालमें वर्षा नहीं थी, परन्तु वर्षाका एक देव था, गड़गड़ाहट नहीं थी परन्तु गड़गड़ाहटका एक देव था, और इस प्रकार इन प्राकृतिक दृश्योंको पुरुषत्व वा देवत्व प्राप्त होता था और उन शक्तियोंको लोग किसी

जीवित पुरुषके रूपमें मानने लगते थे। लोगोंका ख्याल था कि जिस प्रकार कितने एक गृहोंमें सजीव व्यक्तियां होती हैं, उसी प्रकारसे ये शक्तियां भी सजीव हो सकती हैं।

परंतु ये शक्तियां स्वयं कोई जीव नहीं है, ऐसा होनेपर भी प्रारंभमें यह विचार जरूर रहा होगा, ऐसा प्रगट कर रही हैं। इन शक्तियोंके सृजन करनेवाले (रक्षक) रक्षा करनेवाले और (नाशक) नाश करनेवाले ऐसे तीन भेद भी किये गये हैं ऐसा जान पड़ता है और तत्पश्चात् इन्हीं तीन शक्तियोंको कुछ महत् शक्तियोंका भाग समझ करके उसका हिन्दुओंने (ब्रह्मा विष्णु और महेश) नाम रक्खा है ऐसा भास होता है। वास्तवमें यहां जो 'सृजन' शब्द दिया है; वह अंग्रेजीके 'Emanation' शब्दका वाचक है जिसका कि अर्थ 'किसी एक पदार्थमेंसे निकला हुआ' अथवा 'उसी पदार्थका विस्तार' होता है। जो जिस जिस आकारका है उसके उस उस आकारकी रक्षा करनेमें रक्षक शब्दका और उस आकार वा आकृतिके क्षयनाशक शब्दका प्रयोग किया गया है।

इंद्रियोंसे जड़ पदार्थके विषयमें बहुत कुछ बातें मालूम होती हैं। जड़ पदार्थमें जो आकर्षण, स्नेहाकर्षण, (मग्नेटीजम) विद्युत, गुरुत्वाकर्षण आदि शक्तियां होती हैं, वे भी जड़ ही होना चाहिये। क्योंकि जड़की शक्ति चैतन्य नहीं हो सकती है, इन शक्तियोंको ईश्वरके सदृश बनाना यह विचार तो अतिशय ही जड़वादवाला है। इसलिये ईश्वर अथवा ईश्वर सरीखा कोई पुरुष है, इस विचारको जैनी अपने पास भी नहीं फटकने देते हैं। इतनेपर भी वे इन शक्तियोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि, ये शक्तियां सर्वत्र मालूम होती हैं परन्तु वे कई एक

खास नियमोंके आधीन हैं और उनके बीचमें कोई पुरुष अथवा ईश्वर नहीं पड़ सकता है। इतना ही नहीं परन्तु वह कुछ असर भी नहीं कर सकता है। ये शक्तियां बुद्धिपूर्वक हमारा कुछ भला बुरा भी नहीं कर सकती हैं। उनके विषयमें यह कहना कि वे हमपर असर करती हैं, यह तो केवल शक्तियोंकी कानूनके विषयमें जिसके कि वे आधीन हैं अज्ञानता प्रगट करना है। इन शक्तियोंको हम द्रव्य (Substance) कहते हैं। जड़ पदार्थोंमें असंख्य गुण और स्वभाव होते हैं और वे जुदा जुदा समयमें जुदा जुदा रीतिसे प्रगट होते हैं।

हम अपना विशेष ज्ञान प्रगट किये विना नहीं जान सकते हैं कि जड़ प्रकृतिमें कौन कौन शक्तियां छुपी हुई हैं। इससे कोई भी नवीन वस्तु प्रगट होती है तो हम दिङ्मूढ हो जाते हैं। यदि कुछ हमें अचरजमें डालनेवाली घटना होती है, तो हम उसे किसी देवकी करतूत समझ बैठते हैं। परन्तु ज्योंही हम शास्त्रीय सिद्धातोंको समझते हैं, त्योंही सारी नवीनता फिसल जाती है और वह इतनी सीधीसाधी बात मालूम होने लगती है, जैसी कि सूर्यके हर रोज उदय होनेकी और अस्त होनेकी बात है। हजारों वर्ष पहले प्रकृतिके जुदा जुदा दृश्य जुदा जुदा देशोंमें देव और देवियोंके काम समझे जाते थे। परन्तु जब हम शास्त्रीय विद्या अर्थात् सायन्सको समझने लगते हैं तब ये दृश्य बिलकुल सीधे साधे जान पड़ते हैं। यह विचार पलायन कर जाता है कि,वे बड़े बड़े दैवी शक्ति सम्पन्न पुरुष हैं। तब

जैनियोंका ईश्वर क्या है?

ऐसा यदि आप पूछेंगे, तो उसके उत्तरमें मैं जो कुछ ऊपर कह गया हूं, उससे आपके हृदयमें यह तर्क तो अवश्य उठी होगी कि, 'ईश्वर

क्या नहीं है ? ' परन्तु अब मैं आपसे कहूँगा कि, ईश्वर क्या है ? इतना तो आपने समझ लिया कि, जड़ (Matter) की अपेक्षा अर्थात् प्रकृतिकी अपेक्षा कोई दूसरा पदार्थ भी है। आप जानते हैं कि, अपना शरीर बहुतसे स्वाभावों और शक्तियोंको प्रगट करता है। ये स्वभाव साधारण जड़ पदार्थोंमें नहीं मिलते हैं और यह दूसरा पदार्थ जो इन स्वभावों और शक्तियोंको प्रगट कर रहा है मरणकेसमय शरीरमेंसे विदा हो जाता है। हम नहीं जानते हैं कि, वह कहां जाता है। हां यह बात हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि, जब वह शरीरमें होता है तब शरीरकी शक्तियां शरीरमें, जब वह नहीं होता है, तब जैसी दिखती हैं, उसकी अपेक्षा जुदा प्रकारकी होती हैं। उस समय ही शरीर प्रकृतिकी कितनी ही शक्तियोंके साथ समतामें आ सकता है। वह दूसरा जो कुछ है, उसको हम बड़ेसे बड़ा तत्त्व समझते हैं और सर्व चेतन प्राणियोंमें वही तत्व है ऐसा हम मानते हैं। इस तत्वको जो प्रत्येक जीवमें सामान्य है हम देवतत्त्व कहते हैं। हममेंसे किसीमे वह तत्त्व जैसा कि जगत्के महापुरुषोंमें पूर्ण विकासभावको प्राप्त होता है वैसा विकसित नहीं हुआ है, और इसलिये उन महापुरुषोंको हम दैवी पुरुष कहते हैं। अर्थात् सर्व जीवोंमें लोकके अनुषंगसे रहनेवाले दैवीतत्वको देखते हुए जो एकत्र विचार उत्पन्न होता है वह ईश्वर है। जड़ जगत्में और आध्यात्मिक जगत्में जो बहुत सी सामर्थ्य (Energies) शक्तियां हैं उन शक्तियोंके संग्रहको प्रकृति कहते हैं, उसमेंसे जड़ शक्तियोंको तो हम जुदा करके एकत्र करते हैं। और आध्यात्मिक शक्तियोंको एकत्र करके परमात्मा अथवा ईश्वर ऐसा नाम देते हैं।

इस तरह हम जड़ और जड़ शक्तियोंसे चैतन्य शक्तिको जुदा करते हैं। इन चैतन्य शक्तियोंको अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियोंको ही हम भजते हैं। एक जैन श्लोकमें कहा है कि, "मैं उस आध्यात्मिक बल या वीर्यको नमस्कार करता हूं कि, जो हमको मोक्ष मार्गपर चलनेका मुख्य कारण है; जो परमतत्व है, और सर्वज्ञ है। मैं उसे इसलिये नमस्कार करता हूं कि मुझे उस बल तथा वीर्यसरीखा होना है।" इसलिये जहां जैनप्रार्थनाकी रीति बतलाई जाती है वहां ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उससे किसी व्यक्तिके पाससे अथवा आध्यात्मिक स्वाभाविक गुणोंके पाससे कुछ प्राप्त करना है। परन्तु उसी सरीखा होना है। कुछ ऐसा नहीं है कि, वह दैवी व्यक्ति किसी चमत्कारसे हमको अपने सरीखा कर देगी। परन्तु जो भावना हमारे चक्षुओंके समक्ष उपस्थित की जाती है, उस भावनाके अनुसार यथार्थ वर्ताव करनेसे हम अपनेमें फेरफार करनेको समर्थ होते हैं और उससे हमारा स्वतः पुनर्जन्म हो जाता है। और उससे कोई ऐसे जीव हो जाते हैं, जिसका कि स्वरूप दैवी तत्वरूपी ही होता है। परमात्मा अथवा ईश्वरके विषयमें यही हमारा विचार है, इसलिये ही हम परमात्माको भजते हैं। ऐसी इच्छासे नहीं, कि वे हम को कुछ देंगे; ऐसी आशासे नहीं कि, वे हमको प्रसन्न करेंगे; ऐसे भरोसेसे नहीं कि, ऐसा करनेसे हमको कुछ खास लाभ होगा—स्वार्थपनका जरा भी विचार नहीं है। यह तो केवल ऐसा है कि, उच्च गुणोंके लिये उच्चगुणों अथवा सद्गुणोंका वर्ताव करना और उसमें कोई भी दूसरा हेतु नहीं रखना।

आत्मासम्बन्धी विचार ।

जिस पदार्थका अस्तित्व होता है, उसकी कुछ न कुछ आकृति होनी चाहिये और इन्द्रियोंसे उसका ज्ञान भी होना चाहिये यह हम सबका साधारण अनुभव है। परन्तु वास्तविक विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि, यह अपने जीवके केवल इंद्रिय गोचर भागका-ही अनुभव है और वह केवल मनुष्य व्यक्तिका छोटेसे छोटा भाग है। केवल इस अनुभवसे ही हम अनुमान बाँधते हैं और निश्चय करते हैं कि यह अनुभव सब पदार्थोंमें लगाना चाहिये। इस विश्वमें ऐसे भी पदार्थ हैं कि जो इन्द्रियोंके द्वारा जाने ही नहीं जा सकते हैं-- बहुतसे ऐसे सूक्ष्म द्रव्य हैं और व्यक्ति हैं कि जो केवल ज्ञानसे अथवा आत्मासे ही जाने जा सकते हैं। ऐसी वस्तुएं अथवा द्रव्यें देखी नहीं जा सकतीं, सुनीं नहीं जा सकतीं, चखी नहीं जा सकतीं सूंघी नहीं जा सकतीं, इतना ही नहीं किन्तु छुई भी नहीं जा सकती हैं। ऐसे पदार्थोंके रहनेके लिये कुछ स्थानकी अपेक्षा नहीं है, अथवा उसका कुछ स्पर्श हो सके ऐसा भी होनेकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार चाहे उनमें आकार न हो तो भी उनका अस्तित्व हो सकता है। वे वस्तुएँ किसी भी आकारमें हों, परन्तु यह जरूरत नहीं है कि, जिस आकारके शब्दरूप वगैरह होते हैं, उस आकारमें उनका अस्तित्व हो।

ऐसी तो एक भी वस्तु नहीं मिल सकती है कि जिसमें जडके लक्षण हों और चैतन्यके भी लक्षण हों। क्योंकि जडके लक्षण चेतनके लक्षणोंसे बिलकुल उलटा होते हैं। हां एकके पेटमें दूसरी वस्तु हो सकती है--परन्तु इससे एक वस्तु दूसरी नहीं हो जाती है। जब-

आत्माका लक्षण बिलकुल जुदा प्रकारका है, तब फिर वह जड़में कैसे रह सकता है ? हम अपने निजी अनुभवसे जानते हैं कि यदि हमें अपने आसपासकी ऐसी वस्तुओंके बीचमें जो कि अपने सरीखी लक्षणों-वाली नहीं है रहना पड़े तो लोग समझेंगे कि, जब आसपासकी वस्तुओंके साथ इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है, तब उनके बीचमें रहना जरूरी होनेका कुछ कारण होना चाहिए। परन्तु वह कारण बुद्धि गत होना चाहिये—जड़ वस्तुमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि बुद्धि कुछ जड़ वस्तुमेंसे उत्पन्न नहीं होती है। कोई भी जड़ वस्तु अपनेमें बुद्धि है, ऐसा सुबूत अभी तक नहीं दे सकी है। जब उस में सत्व (जीव) होगा तभी वह कह सकेगी कि बुद्धि है। सत्वके विना बुद्धि नहीं हो सकती है।

यह तो हमको विश्वास है कि बुद्धिपर जड़ वस्तुका असर होता है। परन्तु कुछ जड़ वस्तुमेंसे बुद्धि नही निकलती है। जिस समय मनुष्य पूर्ण रीतिसे सचेत—सावधान होता है, उस समय यदि उसे कोई नसेकी चीज पिला दी जाती है, तो उससे उसकी बुद्धि कुछ काम नहीं कर सकती है। इस जड़ वस्तुका असर चेतन वस्तु (आत्मा) पर क्यों होता है ? जीव स्वयं यह समझता है कि, जो यह देह है, वही मैं हूं और जड़ देहको जो कुछ होता है, वह आपको होता है। यहां क्रिश्चियन शास्त्रवेत्ता, रसायनशास्त्रवेत्ता और जैन तत्वज्ञानी तीनोंका एकमत हो जाता है। जबतक आत्मा यह विचारता हैं कि " जो देह है वही मैं हूं " तबतक देहको जो कुछ होता है, वह आपको हुआ है ऐसा समझता है। परन्तु यदि एक क्षणभर आत्मा यह विचार करता है कि, " मैं और देह दोनों जुदा जुदा

पदार्थ हैं—देह सर्वथा पर है तो फिर दुःखका तो नाम भी अस्तित्वमें नहीं रहता है। यदि कभी अपना ध्यान दूसरी ओर दौड़ जाता है तो हम अपने साम्हने जो कुछ होता है, उसे भी नहीं जान सकते हैं। इससे मालूम होता है कि, आप शरीरकी अपेक्षा कुछ उच्च श्रेणीका है। तो भी साधारण रीतिसे शरीरका असर आत्मापर होता है। इससे आत्मिक और शारीरिक नियमोंका हमें अभ्यास करना चाहिये कि जिनके अभ्याससे छोटी वस्तुओंकी अपेक्षा हम ऊंचे चढ़ सकें और उस मोक्षके मार्गमें आगे बढ़ें कि जिसे आत्मा प्राप्त करना चाहता है। अवश्य ही जड़ वस्तुमें भी शक्ति है, परन्तु वह आत्माकी अपेक्षा बहुत ही न्यून और निम्न प्रकारकी है। यदि जड़में कोई शक्ति न हो, तो उसका असर भी आत्मापर नहीं हो सकता है। क्योंकि जब कुछ शक्तिहीन हो तो फिर असर कौन करे? शरीरकी शक्ति जिसका कि हम निरन्तर अनुभव करते हैं, वह उसके भीतर जो आत्मा है, उसके कारणसे है। जड़ वस्तुमें शक्ति है, इसके उदाहरण पहले कहे हुए संयोगी तत्व लोहा चुम्बक वगैरह समझना चाहिये। ये जड़ वस्तुएं आत्माके विना भी स्वयं काम कर सकती हैं। यदि पृथ्वीके आसपास चन्द्रमा घूमता हो तो ऐसा समझना चाहिये कि चन्द्रमा और पृथ्वीमें कोई स्वाभाविक शक्ति है।

ऊपर जो बहुतसी बातें कही गई हैं, उनका सार केवल इतना ही है कि इन जड़ वस्तुओंकी शक्ति आत्मापर असर करती है। इसका कारण यही है कि आत्मा स्वयं उन शक्तियोंके आधीन होनेके लिये तयार रहता है और प्रसन्न होता है। यदि वह स्वयं ऐसा विश्वास करे कि, मुझपर तो किसी वस्तुका असर होना ही नहीं

चाहिये तो फिर उसके ऊपर कुछ भी असर नहीं होगा। आत्माका जब इस प्रकारका स्वभाव है तो अब उसका मूल क्या है यह देखना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तुके दोनों पार्श्वोंकी जांच करनी चाहिये—वस्तुकी और उसके स्वरूपकी। यदि हम अपने आत्माकी स्थिति अथवा हालतके विषयमें विचार करें तो उसकी उत्पत्ति भी है और नाश भी है। मनुष्य देहमें आत्माकी स्थितिका विचार किया जाय तो उसके जन्मके समय इस स्थितिका प्रारंभ और मरणके समय नाश समझना चाहिये। परन्तु यह प्रारंभ और नाश उसकी पहलेकी स्थितिका है स्वयं वस्तुका नहीं है। आत्मा द्रव्यरूपसे तो हमेशा नित्य है परन्तु पर्यायरूपसे उसकी प्रत्येक पर्यायकी उत्पत्ति और नाश है। अब इस आत्माकी स्थिति (पर्याय) की उत्पत्ति यह बात दिखलाती है कि इस उत्पत्तिके पहले आत्माकी दूसरी स्थिति थी। क्योंकि वस्तु जब पहले किसी स्थितिमें हो तब ही दूसरी स्थितिमें हो सकती है। नहीं तो उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता है। चाहे एक स्थिति हमेशा कायम नहीं रहे परन्तु वस्तु किसी न किसी स्थितिमें तो हमेशा ही रहती है। अतएव यदि अपने आत्माकी वर्तमान स्थितिकी उत्पत्ति है, तो इसके पहले भी वह किसी स्थितिमें होना चाहिये और इस स्थितिके नाशके पीछे भी कोई दूसरी स्थिति धारण करना चाहिये। इससे भविष्यकी स्थिति इस वर्तमान स्थितिका ही परिणाम है ऐसा समझना चाहिये। और जैसे भविष्यकी स्थिति वर्तमानकी स्थितिका परिणाम है उसी प्रकारसे यह वर्त्तमान स्थिति इससे पूर्वकी स्थितिका परिणाम है। क्योंकि जो वर्तमान है वह भूतका भविष्यत ही है। तब भविष्यकी स्थितिके विषयमें

भी वैसा ही है। पूर्वके कर्मोंने वर्तमान स्थिति निर्माण की है। और यदि ऐसा है, तो वर्तमानके कर्म भविष्यकी स्थिति निर्माण करेंगे हीं। ये सब बातें हमको पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर लाती हैं। पुनर्जन्मके लिये अंग्रेजीमें रीबर्थ, रीइनकारनेशन, ट्रान्समाईग्रेशन और मेटेमोर्फो-सीस आदि शब्द हैं।

रीइनकारनशेन—का अर्थ "फिरसे मांस होना" होता है। परन्तु वास्तवमें जो जड़ है, वह जड़ ही है और जो स्प्रिट अथवा चेतन है वह चेतन—आत्मा ही है। कुछ चेतन मांस नहीं बनता है। यदि रीइनकारनेशनका अर्थ फिरसे देह धारण करना—अर्थात् मांस होना हो तो रीइनकारनेशन (पुनर्जन्म) ही नहीं हो सके। किन्तु यदि उसका अर्थ ऐसा किया जाय कि कुछ समयके लिये मांसके अन्दर जिन्दगी तो रीइनकारनेशन हो सकता है। रीइनकारनेशनका यह भी अर्थ होता है कि, "फिर फिरसे किसी न किसी पर्यायमें जन्म लेना"

मेटेमोर्फोसीसका अर्थ ग्रीक भाषामें केवल फेरफार (रदबदल) होता है। शरीरों और आत्माओंकी एकत्रावस्थाको प्राणी कहते हैं। यह एकत्रावस्था मनुष्यत्वमें बदल जाती है और वही फिर किसी तीसरी वस्तु (पर्याय) में बदल जाती है। और इस तरह आगे मेटेमोर्फोसीसका यथार्थ अर्थ होता है। सोल (आत्मा) के ट्रान्सिमाइ-ग्रेशन (जन्मान्तर) का विचार खास करके क्रिश्चियनोंमें है। मनुष्य आत्माका (पशु आदि) प्राणीके शरीरमें जाना यद्यपि जरूरी है परन्तु वास्तवमें एक वस्तुमेंसे दूसरीमें अर्थात् एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें जानेका नियम है। कुछ यही आवश्यक नहीं है कि, मनुष्य शरीरमेंसे प्राणी शरीरमें ही जाना चाहिये। मतलब जानेसे—भ्रमण

करनेसे है, जावे चाहे जहा । यह बात साकारका विचार सूचित करती है । क्योंकि जबतक साकार नहीं हो— जबतक कोई स्थान रहनेको नहीं चाहिये, तबतक एक स्थानसे दूसरे स्थानको गमन नहीं हो सकता है । इसीसे हमारी फिलासोफीमें (तत्वज्ञानमें) पुनर्जन्मका (रीबर्थका) सिद्धान्त स्वीकृत है अर्थात् यह माना है कि, आत्मा एक शरीरको छोड़कर किसी दूसरे शरीरमें जन्म लेता है । और जन्मसे कुछ यह मालूम नहीं होता है कि, जिस अवस्थामें मनुष्य शरीरमें जन्म होता है, वही अवस्था प्रत्येक स्थानमें होगी । नहीं. ऐसी अगणित स्थितियां वा पर्यायें हैं, जिनमें मनुष्य जन्म लेते हैं । बीजके पकनेमें कई महिने लगते हैं और उसके पश्चात् उसका जन्म हुआ कहलाता है । इसी प्रकारसे मनुष्य जो कुछ करता है, उसका परिपाक होता है । फिर कोई मनुष्यशक्ति उसको दूसरे गृहमें ले जाती है और इस प्रकार हम कहते हैं कि, जन्मकी वह दूसरी स्थिति है । इसके सिवाय गर्भ धारण करनेकी भी कुछ अवश्यकता नहीं है । कार्माणशरीरमें ही इतनी अधिक शक्तियां है कि, वह स्वयं दूसरा शरीर अपने साथ साथ धारण कर सकता है मनुष्य देहमें सूक्ष्म शरीर और दूसरे प्राणियोंकी देहके सूक्ष्म शरीरोंके आकार तथा कद बारबार बदलते रहते हैं ।

यदि हमने किसी भी जातिमें जाकर उससे विरुद्ध प्रकारके कर्म किये हों, तो यह आवश्यक है कि उन कर्मोंके अनुसार दूसरा जन्म हो । यदि किसीको मनुष्यजातिमें आना हो, तो उसे मनुष्य जाति और मनुष्यके योग्य कर्म करना चाहिये । यदि वह ऐसा नहीं करे गा—किसी दूसरी ही जातिके कर्म उपार्जन करेगा, तो वह जुदा ही

ग्रहोंमें उत्पन्न होगा और जुदा ही दृश्य धारण करेगा। इस जन्मधारणमें नरमादाका सम्बन्ध होना ही चाहिये, इसकी जरूरत नहीं है। विना नरमादाके सम्बन्धके भी प्राणियोंका जन्म हो सकता है। जीवनकी इतनी अधिक प्रकारकी स्थितियां हैं कि, उनकी जानकारी केवल मनुष्यजीवनकी स्थितिका अभ्यास करनेसे नहीं हो सकती है। हम सबने केवल मनुष्य और दूसरे थोड़ेसे प्राणियोंकी स्थितिका अभ्यास किया है जो कि उस अतिशय उच्च श्रेणीकी सायन्सका जिसका कि हम वर्तमानमें शक्तिके अनुसार बहुत थोड़ासा अभ्यास कर सकते हैं एक बहुत ही सूक्ष्म भाग है। ऐसी बहुतसी स्थितियां हैं कि जिनका अभ्यास करनेके लिये हम अशक्त हैं, क्योंकि संसारमें असंख्य स्थितियां हैं। इसलिये एक प्रकारकी (नरमादाके सम्बन्ध आदिकी) स्थितिका नियम सब ही प्राणियोंकी स्थितिके लिये लागू नहीं हो सकता है।

हमारा अभ्यास आन्तर्दृष्टिका है। हमारे मतसे आत्मा सब कुछ यथार्थ समझनेके लिये समर्थ है, इसलिये जो ज्ञान प्राप्त हो, वह उत्तम होना चाहिये। क्योंकि सायन्सकी रीतिसे जो कठिनाइयां आती हैं, वे इस उत्कृष्ट प्रकारके ज्ञानमें नहीं आती हैं। सायन्टिस्ट लोग भूल करते हैं, परन्तु वे समझते हैं कि, हम भूल नहीं करते हैं। कई एक विषय जो यथार्थ नहीं होते हैं, उसमेंसे निकाले हुए सारका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अथवा जो विषय यथार्थ हो, उनमेंसे निकाले हुए सारका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। हम यह नहीं कहते हैं दृष्टिसे प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओंका जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसमें हमेशा ही भूलें हुआ करती हैं; परन्तु

कभी कभी होती अवश्य हैं । और कभी यथार्थ भी होती हैं परन्तु हम उनपर भरोसा नहीं रख सकते हैं । यथार्थ ज्ञान तो उसे कह सकते हैं, जिसे आत्माने बाहिरी किसी भी वस्तुकी सहायता लिये बिना प्राप्त किया हो । मोक्षके जीवका अथवा मोक्ष जिसका बहुत निकट हो उसका, अथवा मानसिक नैतिक और आत्मिक पवित्रता जिसकी पूर्ण हो गई हो और इसी समय जिसने पूर्वके प्रायः सब कर्म खपा डाले हों ऐसे जीवका ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहला सकता है ।

आत्मा जब इस स्थितिको प्राप्त करता है, तब वह सब कुछ जानता देखता है । अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है । वह स्वयं सर्वदर्शीपना दिखला देता है कि आत्मा आप आपको भी देखता है। जिस दशामें आत्मा सर्वज्ञ और अनन्त सुखमय होता है, वह आत्माकी ऊंचीसे ऊंची अवस्था है । क्योंकि संस्कृतमें हम ये तीन वस्तुएं देखते हैं अक्षय, अलय, अक्षय । परन्तु ऐसी अक्षय स्थिति वाले आत्माका हम वर्णन नहीं कर सकते हैं । कारण जब वर्णन करनेवाला अपनेको अपूर्ण मानता है तब वह अनन्त दशावाले आत्माका सम्पूर्ण रीतिसे किस प्रकार वर्णन कर सकता है ? इसलिये ऐसी स्थितिवाले आत्माका हम जो वर्णन करते हैं, उसमें चाहे जितना अधिक कहा गया हो परन्तु वह पूर्ण नहीं होता है । हम उसमेंकी बातें छोड़ देते हैं । अपने मनमें जितने विचार उत्पन्न होते हैं, जब हम उन्हें ही ठीक ठीक वर्णन नहीं कर सकते हैं, तब आत्मा कि जिसका वीर्य और ज्ञान अनन्त होता है उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? आत्मा और जगतकी स्थितिका जैनियोंने इसी सिद्धान्त (पॉइन्ट) से अभ्यास किया है और इसीसे वे बहुत ही उत्तम तत्व निकालसके

हैं। जब हम यह तत्वसम्बन्धी विचार करते हैं, तब इस देश (अमेरिका) में और दूसरे देशोंमें तथा दूसरे धर्मोंमें अन्तर यही पड़ता है कि—दूसरे जो कुछ समझते हैं, वह ऊपर कहे हुए सिद्धान्तोंको ध्यानमें रखके समझते हैं, बाइबिल कहती है कि, "तुम किसीको मत मारो" और जैन दर्शन तथा दूसरे:दर्शन कहते हैं कि, सर्व प्राणियोंपर प्रेम और दया रखनी चाहिये। इन सबका अर्थ यही है कि, हमें किसी भी जीवको मारना नहीं चाहिये। हमें प्रत्येक वस्तुके गुण, लक्षण और कर्म ये सब ध्यानमें रखना चाहिये। जगतमें जिस वस्तुकी स्थिति हम जान सकते हैं, उसका केवल एक भाग जाननेसे हम उसके ऐसे नियम नहीं जान सकते हैं, कि जो सारे जगतके लिये लागू हो सकें। तुम्हें जगतका स्वभाव:ठीक ठीक वर्णन करना हो, तो तुम उसकी जुदा जुदा सम्पूर्ण वस्तुओंके स्वभावोंका अभ्यास करो। जब तुम यह करलोगे, तभी सब भागोंके लिये वे नियम लागू कर सकोगे। हम अपने मनमें यह समझ सकते हैं कि हमारा किरायेदार नीचेके मंजिलमें रहता है इसलिये हम उससे ऊंचे हैं।

परन्तु इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि, हम ऊंचे हैं, इसलिये उसे पैरोंसे रोंध डालनेका हमें अधिकार है। उसको भी किसी समय पहले दूसरे तीसरे और शायद अन्तिम मंजिलपर रहनेका अधिकार मिल सकता है। जो ऊंची अवस्थामें हो उसे नीची अवस्थावालेको रोंध डालनेका अधिकार नहीं है। यदि कोई यह कहे कि, उसे स्वयं वैसा करनेका सत्व है, अथवा दूसरे जीवोंके मारे बिना आपमें पूरा बल नहीं आ सकता है, तो हमारा तत्वज्ञान तत्काल ही कहेगा कि नहीं, चाहे जैसी ऊंची अवस्थामें किसी

जीवको मारना महापाप है और उस पाप करनेवालेको समझना चाहिये कि उसने अपने लिये एक नीची गति पसन्द करली है। यदि व्यापार करना हो, तो ऐसा करना चाहिये कि जिसमें नफा हो और नुकसान न हो तथा कर्ज न हो। उच्चस्थिति वही कही जायगी, जिसमें कर्ज अथवा दिवाला न हो। जो विना दिवालेकी और पूरी पूरी मुक्त—स्थिति है, वही उच्चस्थिति है। मुक्तस्थितिको भी जिसे कि हम मोक्ष कहते हैं इसी प्रकार (कर्मादिके कर्जसे रहित) समझनी चाहिये। कर्मसम्बन्धी विचार बहुत उलझनका है, उसका कुछ स्वरूप मैं अपने पहले व्याख्यानमें कह चुका हूं।

'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' की रूपककथाके समान कर्मसिद्धान्तमें भाग्य (नसीब) अथवा क्रिश्चियन सिद्धान्तसे मिलता हुआ कुछ भी नहीं है। इसमें ऐसा भी नहीं माना है कि, मनुष्यजीव दूसरे किसीके बन्धनमें आ पड़ा है। इसी प्रकारसे यह भी नहीं कहा है कि वह अपनी किसी बाहिरी शक्तिके आधीन हो गया है। परन्तु एक आशयसे वा अपेक्षासे कर्मका अर्थ भाग्य भी हो सकता है। जो कुछ थोड़ासा करनेके लिये हम स्वतंत्र हैं, वही करनेके लिये देव (पुरुष विशेष?) स्वतंत्र नहीं है। और हमें अपने कर्मोंका परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है। कई एक कर्मपरिणाम बलवान् होते हैं और कई एक साधारण होते हैं। कई एक परिणाम ऐसे होते हैं कि उनका फल भोगनेके लिये बहुत समय चाहना पड़ता है और कई एक परिणाम ऐसे होते हैं कि, उनके भोगनेके लिये थोड़ा समय लगता है। कई एक परिणाम ऐसे होते हैं कि, उनका क्षय बहुत लम्बे समयमें होता है और कई एकोंका बहुत थोड़े वक्तमें, पानीसे रज

धुल जानेके समान हो जाता है। जो कर्म पक्के इरादेसे (तीव्र अध्यवसायोंसे) नहीं किये जाते हैं, उनका असर पानीसे धो डालनेसे जो रज खिर जाती है उसीके समान होता है। ऐसी दशामें कितने ही किये हुए कर्मोंका जो असर पहले पड़ा हुआ होता है, उसके सन्मुख दूसरे कर्म किये जावें, तो वह दूर होता जाता है। इसलिये कर्मविचारको भाग्यविचार नहीं कह सकते हैं। परन्तु हम कहा करते हैं कि, अपनी इच्छाके विना हम सब एक जेलमें नहीं जाते हैं अथवा अपने यत्न किये विना हम उस स्थितिको नहीं पहुँच सकते हैं, हमारी यह वर्तमान स्थिति (पर्याय) अपने भूतकालके कर्मों, शब्दों और विचारोंका ही पारिणाम है। अमुक एक मनुष्य मर गया है, इससे सारे जीव उस सम्पूर्ण स्थितिको प्राप्त करेंगे अथवा उस मनुष्यके माननेसे सब तर जावेंगे ऐसे कथनको ' फेटालिजमकी थीअरी ' (प्रारब्धवादका नियम) कहते हैं। जो मनुष्य पवित्रतासे तथा सद्गुणोंसे रहते हैं पर अमुक भावना (थीअरी) अंगीकार नहीं करते हैं वे उस स्थितिको नहीं पहुंच सकते हैं और जो उस थीअरीको अंगीकार लेते हैं, वे उसी कारणसे सम्पूर्ण स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं ऐसा जो कथन है सो भाग्यवाद है। जगत्तारक नामकी जो श्रद्धा है, उसका अर्थ उस ईश्वरीशक्ति अथवा तत्वका अनुकरण करना है जो कि अपने आपमें भी है। जब यह शक्ति पूर्ण रीतिसे विकसित होती है अर्थात् उत्तम विचाररूपी यज्ञकुंडमें लघुताका हवन हो जाता है, तब हम भी क्राइस्ट (परमात्मा) हो जाते हैं। हम भी स्वस्ति (क्रोस) को धर्मचिन्ह समझते हैं। प्रत्येक जीव नीची स्थितिमेंसे निकलकर ऊँची स्थितिमें जा सकता है, परन्तु वह तबतक उस

स्थितिको नहीं पहुंच सकता है, जब तक कि दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रयको नहीं पा लेता है।

सम्यग्दर्शनका अर्थ यह नहीं है कि, अपना मरण होनेके पीछे दूसरी स्थितिमें जन्म लेना पड़े (?) किन्तु यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पीछे सम्यक्चारित्र प्राप्त हो जाता है, तो फिर किसी भी नीची गतिमें गये विना अपने स्वभावसे ही ऊंची गतिमें चढ़ जाता है। यह व्याख्यान मैंने किसी प्रकारके रूपक तथा अलंकारके विना साफ साफ शब्दोंमें कहा है (क्योंकि उपस्थित सभा विद्वानोंकी है) परन्तु जब अज्ञानी लोगोंके समक्ष ये सब सत्य तत्त्व कहना पड़ते हैं, तब कुछ न कुछ अलंकार अथवा दृष्टान्तादि देनेकी आवश्यकता होती है, और पीछे उनका यथार्थ अभिप्राय समझाया जाता है।

इति शुभम्।